संपादकीय

सिद्धरमैया को कर्नाटक की कमान

कर्नाटक के दो कद्दावर नेताओं सिद्धरमैया और डीके शिवकुमार ने मुख्यमंत्री पद की दावेदारी पेश की थी। कर्नाटक विधानसभा चुनाव जिताने में दोनों की अहम भूमिका मानी जा रही है। ऐसे में स्वाभाविक ही पार्टी आलाकमान के सामने मुश्किल थी कि वह दोनों में से किसे मुख्यमंत्री पद की जिम्मेदारी सौंपे। जिन दलों में कई कद्दावर नेता होते हैं, वहां ऐसी दुविधा की स्थिति पैदा होती ही है। अगर उनमें संतुलन न साधा जाए, तो सरकार के कामकाज में अड़चनें बनी रहती हैं और फिर अगले चुनावों का गणित भी बिगड़ता है।

सिद्धरमैया अनुभवी नेता हैं, इससे पहले पांच साल तक मुख्यमंत्री रह चुके हैं। उनका कार्यकाल संतोषजनक रहा है। फिर कर्नाटक में उनका बड़ा जनाधार है। इस चुनाव में भी कांग्रेस अगर अल्पसंख्यक, अन्य पिछड़ी जातियों और दलितों को अपने पक्ष में जोड़ सकी, तो उसके पीछे सिद्धरमैया का प्रभाव ही काम आया। आम चुनाव नजदीक आ रहे हैं, ऐसे में सिद्धरमैया को नाराज करना कांग्रेस के लिए परेशानी मोल लेना साबित हो सकता था। फिर चुनाव घोषणापत्र में कांग्रेस ने जो पांच बड़े वादे किए हैं, उन्हें मंत्रिमंडल की पहली ही बैठक में पूरा करने का संकल्प है। इसके लिए दृढ़ राजनीतिक नेतृत्व और कुशल आर्थिक संयोजन बहुत जरूरी है। इस मामले में सिद्धरमैया ही कारगर साबित हो सकते हैं। आर्थिक मामलों में सिद्धरमैया के गणित का लोहा विपक्षी भी मानते रहे हैं।

उनके बरक्स डीके शिवकुमार पार्टी के समर्पित कार्यकर्ता हैं, उनकी निष्ठा और लगन में कोई कमी नहीं। इस चुनाव में उनकी मेहनत नतीजों में भी परिवर्तित हुई। मगर सबसे बड़ी अड़चन उनके साथ यह है कि उन पर कर चोरी और वित्तीय अनियमितताओं के गंभीर आरोप हैं, जिसके चलते उन्हें जेल भी जाना पड़ा था। अगर कांग्रेस उन्हें मुख्यमंत्री पद पर बिठा देती और आयकर विभाग और प्रवर्तन निदेशालय सक्रिय होकर उन्हें फिर गिरफ्तार कर ले जाते, तो पार्टी के लिए नई मुसीबत खड़ी हो जाती।

इसलिए चुनाव नतीजे आने के तुरंत बाद से ही पार्टी में उन्हें लेकर हिचक साफ दिखाई दे रही थी, पर डीके शिवकुमार अपनी दावेदारी पेश करने और दबाव बनाने का प्रयास करते रहे। मगर पार्टी ने उचित ही व्यावहारिक पहलुओं पर ध्यान देते हुए उन्हें उप-मुख्यमंत्री का पद दिया। इससे उनके सम्मान में कहीं से कोई कमी नहीं आने पाई है। कांग्रेस के लिए यह कोई पहला मौका नहीं था, जब दो बड़े नेता मुख्यमंत्री पद की दौड़ में शामिल थे और उनके बीच उसे संतुलन बिठाना था। छत्तीसगढ़ में भी यही संकट खड़ा हो गया था, तब आधे-आधे कार्यकाल के लिए भूपेश बघेल और टीएस सिंह देव के बीच फार्मूला तय किया था। राजस्थान में सचिन पायलट को उप-मुख्यमंत्री बनाया गया। अभी हिमाचल प्रदेश में भी इसी तरह मुख्यमंत्री पद की दौड़ शुरू हुई, तो दो प्रभावशाली नेताओं में मुख्यमंत्री और उप-मुख्यमंत्री पदों का बंटवारा किया गया। हालांकि छत्तीसगढ़ और राजस्थान में दोनों नेताओं के बीच खींचतान देखी जाती रही, पर सरकारें अपना काम करती रहीं। कर्नाटक में ऐसी स्थिति पैदा न होने पाए, इसके लिए केंद्रीय कमान को दोनों नेताओं के बीच तालमेल बनाए रखना होगा। महत्त्वपूर्ण बात यह कि इन दोनों नेताओं को खुद उसी तरह एकजुट होकर काम करना होगा, जिस तरह चुनाव के समय किया। नेतृत्व में तनाव आखिरकार राज्य की जनता के हितों को प्रभावित करता है।

कर्नाटक के जनादेश का लोकतांत्रिक संदेश

दृष्टिकोण

-विश्वनाथ सचदेव

कर्नाटक में कांग्रेस की जीत को लेकर किसी किंतु-परंतु के लिए कोई स्थान नहीं है। 224 सदस्यीय विधानसभा में 135 सीटों पर स्पष्ट विजय मिली है कांग्रेस को। शायद ही इससे पहले कभी कांग्रेस को कर्नाटक में ऐसी विजय मिली होगी। लेकिन क्या कांग्रेस की जीत ही इस चुनाव की महत्वपूर्ण उपलब्धि रही है? इस सवाल को इस रूप में भी पूछा जा सकता है कि महत्वपूर्ण कांग्रेस का चुनाव जीतना रहा है अथवा कर्नाटक में भाजपा का हारना?

वैसे देखा जाये तो दोनों बातों का अर्थ एक ही लगता है— कांग्रेस कर्नाटक में जीती है, और भाजपा हारी है। लेकिन हकीकत यह भी है कि कांग्रेस के जीतने से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है कर्नाटक में भाजपा की हार। यूं तो भाजपा कह सकती है कि कर्नाटक में परंपरा-सी रही है चुनाव-दर-चुनाव सरकार का बदलना, और वह यह कहकर संतुष्ट भी हो सकती है कि राज्य में उसका आधार कमजोर नहीं हुआ, उसका वोट प्रतिशत पिछले चुनाव जितना ही रहा है। इस चुनाव में भाजपा को 36 प्रतिशत वोट मिले हैं, 2018 के चुनाव में भी इतने ही वोट मिले थे। लेकिन वोट प्रतिशत का कम न होना कर्नाटक में भाजपा की घटती साख के तथ्य को छिपा नहीं सकता। हकीकत यह है कि चुनाव-प्रचार में हर हथकंडा अपनाने के बावजूद दक्षिण भारत का द्वार भाजपा के लिए बंद हो गया-सा लगता है। चुनाव में कांग्रेस का जीतना भले ही कम महत्वपूर्ण न हो, लेकिन भाजपा का हारना कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। राजनीतिक विश्लेषक इसे भाजपा का विजय-रथ के रुकने के संदर्भ में भी देख रहे हैं। सन? 2014 में शुरू हुई थी देश में भाजपा की विजय-यात्रा। इसके बाद 2019 में भी प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में भाजपा ने राष्ट्रीय स्तर पर शानदार विजय पायी थी। लगने लग गया था कि अब ताकतवर भाजपा को हराना कमजोर और बंटे हुए विपक्ष के बस का नहीं रहा। एक तयशुदा और सोची-समझी रणनीति के तहत प्रधानमंत्री मोदी को एक अजेय नेता के रूप में स्थापित किया गया। यह भी इसी रणनीति का हिस्सा था कि 'मोदी' है तो जीत पक्की है, को एक विश्वास के रूप में सामने रखा जाये। पिछले दस सालों में यह विश्वास फला-फूला भी। हकीकत यह भी है कि भाजपा भले ही यह कहती रहे कि पार्टी व्यक्ति से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है, पर स्थिति यह बना दी गयी थी कि प्रधानमंत्री मोदी और कुछ हद तक गृहमंत्री अमित शाह भी, पार्टी से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। कर्नाटक के इस चुनाव ने इस अवधारणा को ध्वस्त कर दिया है। सवाल पूछा जाने लगा है कि यदि चुनावों में जीत का श्रेय प्रधानमंत्री को ही दिया जाना सही था तो कर्नाटक के इस चुनाव में भाजपा की हार को प्रधानमंत्री मोदी की हार क्यों न माना जाए?

भाजपा नेतृत्व इस सवाल के अर्थ और महत्व को समझ रहा है। इसलिए कोशिश की जा रही है कि कर्नाटक की हार को कमतर आंका जाये। कर्नाटक चुनाव के तत्काल बाद भाजपा ने जिस तरह से मोदी-सरकार के दस साल का जश्न मनाने की शुरुआत कर दी है, वह इसी कोशिश का एक हिस्सा है। अब भाजपा पूरा एक महीना अपने कार्यकाल का जश्न मनायेगी। देशभर में भाजपा के प्रचार-प्रसार के लिए रैलियां आयोजित की जाएंगी। यह भी महत्वपूर्ण है कि इस 'जश्न' की शुरुआत प्रधानमंत्री की दो रैलियों के साथ हो रही है। लेकिन भाजपा के लिए इस बात को भुलाना भी शायद ही संभव हो कि कर्नाटक में प्रचार के आखिरी दौर में प्रधानमंत्री की दो 'प्रचंड रैलियों' के बावजूद संभावित हार को जीत में बदलना मुश्किल हो गया था।

बहरहाल, भाजपा की आगामी रणनीति पर आगे चर्चा होगी ही। आज तो महत्वपूर्ण यह देखना है कि कर्नाटक में भाजपा की हार का मतलब क्या है? दो मतलब हैं इस हार के, पहला तो यह कि 'कांग्रेस मुक्त भारत' का सपना दिखाने वाली भाजपा के लिए दक्षिण भारत का दरवाजा फिलहाल बंद दिख रहा है। 'भाजपा मुक्त दक्षिण भारत' की यह स्थिति देश की राजनीति की नयी संभावनाओं को जन्म देने वाली है। यह सही है कि पिछले आठ-दस साल में भाजपा की यह चुनावी हार पहली नहीं है, हाल ही की हिमाचल की भाजपा की हार को भी कम करके नहीं आंका जाना चाहिए, पर कर्नाटक में भाजपा की हार के मायने ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। यह तथ्य अपने आप में कम महत्वपूर्ण नहीं कि इन चुनावों में भाजपा के बुनियादी दावों को चुनौती दी गयी थी। भाजपा ने जीत के लिए हर हथकंडा अपनाया था। सांप्रदायिकता के आधार पर ध्रुवीकरण की कोशिश भले ही कोई नयी बात नहीं हो, पर जिस तरह चुनाव-प्रचार के अंतिम चरण में स्वयं प्रधानमंत्री ने जीत के लिए बजरंगबली का सहारा लेने की कोशिश की, उसे किसी भी दृष्टि से उचित नहीं ठहराया जा सकता। वैसे भाजपा के नेता इस बात को भी बार-बार दुहराते रहे कि बजरंगबली का नाम पहले कांग्रेस ने लिया था। कांग्रेस के चुनावी घोषणापत्र में बजरंग दल जैसे संगठनों पर प्रतिबंध लगाने की बात कही गयी थी। कांग्रेस की यह 'चूक' भाजपा को एक 'अवसर' लगी और उसने 'बजरंगबली' को लपक लिया। प्रधानमंत्री ने तो चुनावी सभाओं में यहां तक कह दिया कि मतदाता जब वोट डालने जाएं तो 'बजरंग बली की जय' बोल कर ईवीएम मशीन का बटन दबाएं। इसे धर्म के नाम पर वोट मांगना नहीं कहा जाये तो और क्या कहा जायेगा? आश्चर्य तो इस बात पर है कि चुनाव आयोग ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया।

ध्यान तो देश के गृहमंत्री की इस बात की ओर भी जाना चाहिए था जब उन्होंने कांग्रेस की जीत के बाद राज्य में स्थिति बिगड़ने की धमकी दी थी। इसे सतही प्रचार के रूप में ही देखा जा सकता है। 'हिजाब हलाल' से शुरू हुआ था चुनाव-प्रचार और बजरंगबली तक जा पहुंचा। इसे पराभव की राजनीति के रूप में देखा जाना चाहिए।

ऐसा नहीं है कि कांग्रेस के नेतृत्व से कोई चूक ही नहीं हुई। धर्म और जाति का सहारा लेने के उदाहरण यहां भी मिल जाएंगे, पर निस्संदेह कांग्रेस के प्रचार में जोर भ्रष्टाचार, महंगाई और बेरोज़गारी पर ही था। यही होना भी चाहिए। स्वस्थ राजनीति का तकाज़ा है कि जनता के हित के बुनियादी मुद्दों के आधार पर राजनीति हो। भाजपा की शुरुआत कुछ-कुछ ऐसी हुई थी। राष्ट्रवाद, आदर्शवाद और नये सोच के नारे के साथ उतरी थी भाजपा मैदान में। पर आज जिस मोड़ पर भाजपा पहुंची है वहां संकीर्णता और जातीयता के जिन्न खड़े हैं। और यह स्थिति भाजपा ने स्वयं पैदा की है। बदलनी चाहिए यह स्थिति। कर्नाटक के चुनाव परिणामों के संदर्भ में भाजपा को यह सोचना ही होगा कि ध्रुवीकरण की राजनीति देश को, और भाजपा को भी, अंततः अंधेरों में धकेल देगी जहां से प्रकाश की किरण का दिखना भी मुमकिन नहीं होगा।

मुफ्त की राजनीति विजय की गारंटी नहीं

नजरिया

- अवधेश कुमार

पहले हिमाचल प्रदेश और अब कर्नाटक के चुनाव परिणामों ने विचार को बाध्य किया है कि लोक कल्याणकारी कार्यों के नाम पर जनता को मुफ्त वस्तुएं और सेवाएं देने की घोषणाएं 'फ्रीबीज़' कितनी जायज हैं। अरविंद केजरीवाल के नेतृत्व में आप ने राजधानी दिल्ली में चुनावी विजयों की दृष्टि से इसका सर्वाधिक चतुर उपयोग किया है। इसे ही विस्तारित करते हुए पंजाब तक ले गए। अब दूसरी पार्टियां भी धीरे-धीरे आप का अनुसरण कर रही हैं। कांग्रेस ने हिमाचल प्रदेश में पुरानी पेंशन व्यवस्था लागू करने से लेकर राशन, बिजली सहित ऐसे वायदे किये जो अर्थव्यवस्था के लिए क्षतिकारक हैं। संयोग से उसे विजय प्राप्त हुई। कर्नाटक में उसने ज्यादा विस्तार किया है।

स्वाभाविक ही इस अंधी दौड़ में जो पार्टियां या व्यक्ति उसके विरोध में खड़ा होगा वह आज के हल्ला बोल माहौल में गरीब विरोधी और पूंजीपतियों, कॉर्पोरेट का दलाल और समर्थक तक करार दिया जाएगा। गांधी जी ने कहा था कि मैं देश में किसी मुफ्तखोरी की अनुमति नहीं दे सकता। वास्तव में अगर गहराई से देखें तो राजनीतिक पार्टियों की मुफ्त दान संबंधी घोषणायें और कदम देश के सामूहिक मानस को श्रम विमुख बना देना है। जिस व्यक्ति, समाज और देश के अंदर यह भाव और व्यवहार नहीं है कि अपने समक्ष उत्पन्न कठिनाइयों, चुनौतियों को स्वयं के संकल्प और परिश्रम से निपटा जाएगा तो वह व्यक्ति, समाज और देश कभी सशक्त व स्वावलंबी नहीं हो सकता। एक बार समाज को अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की मुफ्तखोरी का स्वाद लग गया तो परिश्रम कर स्वयं को सक्षम बनाने का संस्कार नष्ट हो जाता है। उसमें उसका आत्मविश्वास भी खत्म हो जाता है।

इस विचार और व्यवहार का प्रभाव देखिए कि जिनके लिए कुछ किलो राशन, कुछ यूनिट बिजली या कुछ लीटर पानी का व्यय मायने नहीं रखता वह भी इससे प्रभावित होते हैं। कई चुनाव परिणामों विशेषकर दिल्ली, पंजाब आदि चुनाव परिणामों का निष्कर्ष तो यही है। वैसे भारत में मतदाताओं को रिझाने के लिए सरकारी खजाने से मुफ्त दान का लंबा इतिहास है किंतु इसकी शुरुआत लोग दक्षिण के आंध्र और तमिलनाडु जैसे राज्यों से मानते हैं।

वहां मुफ्त चावल से लेकर कलर टीवी, केबल कनेक्शन, मोबाइल तक देने की घोषणाएं हुईं और दी गईं। समाज में वास्तविक वंचित, निराश्रित, कमजोर को राज्य मूलभूत आवश्यकताएं प्रदान कर संरक्षण दे यह समझ में आता है। किंतु सक्षम, समर्थ को भी मुफ्त दिया जाए, यह खतरनाक है। वह भी उपभोक्तावादी वस्तुएं। केंद्र एवं राज्यों को आय के अनुरूप ही कल्याण और विकास के बीच संतुलन बनाते हुए खर्च करना है। इस तरह के मुफ्त दान और एक वर्ग को खुश करने के लिए पेंशन आदि बढ़ाई तो उसका असर समूची अर्थव्यवस्था पर होता है और दूसरे समूह भी इसकी मांग करते हैं।? इससे विकास की नीतियां और कार्यक्रम प्रभावित होते हैं तथा व्यवहार में आम लोगों के कल्याणकारी योजनाओं में भी कटौती करनी पड़ती है। तो राजनीतिक दलों के लिए भी लंबे समय तक के लिए यह लाभकारी नहीं हो सकता। लोगों को उनकी आकांक्षाओं के अनुरूप सांस्कृतिक, शैक्षणिक, धार्मिक, सामाजिक परिवेश सुरक्षा का वातावरण तथा विकास चाहिए और न होने पर वह किसी पार्टी को सत्ता से हटा सकते हैं। एनटी रामाराव के नेतृत्व में ही तेलुगू देशम पार्टी चुनाव में बुरी तरह पराजय हुई। अकाली दल ने भी पंजाब में लोगों को मुफ्त में काफी कुछ दिया लेकिन यह उसकी सत्ता की स्थाई गारंटी नहीं बन सका। इसके विपरीत गुजरात में भाजपा लगातार 1995 से सत्ता में है। वहां के मतदाताओं ने आम आदमी पार्टी की मुफ्त घोषणाओं को स्वीकार नहीं किया। ये उदाहरण राजनीतिक दलों के लिए सीख होनी चाहिए।

वास्तव में मुफ्त दान यानी फ्रीबीज़ से विजय चुनाव परिणामों का केवल एक पक्ष है। तात्कालिक वोट की राजनीति के लिए कुछ कदम उठाते वह भी अपने दूरगामी लकवा आदर्श तथा उत्तरदायित्व के प्रति हमेशा सतर्क रहना होगा। हिमाचल या कर्नाटक की पराजय भाजपा के अंदरूनी कलह की परिणति थी। आखिर किसान सम्मान निधि, कोरोना काल से अब तक मुफ्त राशन सहित घोषणा पत्र में स्वयं कई मुफ्त वायदों के बावजूद उसे पराजय मिली तो कारणों की गहराई से समीक्षा करनी चाहिए। अगर शीर्ष केंद्रीय नेतृत्व की तरह राज्य संगठन एवं सरकार अपने लक्ष्यों, विचार एवं योजनाओं के प्रति ईमानदारी और प्रतिबद्धता परिलक्षित करेंगे तो जनता नकार नहीं सकती। तात्कालिक परिस्थितियों में किन्ही कारणों से पराजय मिली तो फिर से वापसी भी हुई है। कई दूसरे दलों के साथ भी यही लागू होता है।

वक्त की जरूरत है कि व्यक्ति अपने संकीर्ण स्वार्थों के बजाय राष्ट्रीय हितों को तरजीह दे। यदि मुफ्त की राजनीति से देश के व्यापक आर्थिक हितों को चोट पहुंचती है तो उससे देश का हर नागरिक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

आजकल

परीक्षा की कसौटी

आजकल परीक्षा परिणामों का वक्त है। केंद्रीय व राज्य शिक्षा बोर्डों के परीक्षा परिणामों का दौर जारी है। हर साल पुराने शीर्षकों की अखबारों में पुनरावृत्ति होती है। फिर लड़कियों ने बाजी मारी। इस बार भी लड़के पिछड़े। फलां श्रमिक व कामगार का बेटा अव्वल आया। कमोबेश ऐसा हर साल ही दोहराया जाता है। संभव है कभी इन श्रेणियों व प्रतिशत को तय करने का मकसद स्वस्थ प्रतियोगिता विकसित करना रहा होगा।

वक्त बदला है, इंटरनेट व मोबाइल संस्कृति के दौर में बच्चे अब सब कुछ फटाफट चाहते हैं। बाजार की शक्तियों ने मुनाफे के हथकंडों से समाज में उम्मीदों का उफान पैदा किया है। अब अपनी क्षमताओं और परिस्थितियों का संज्ञान लिये बिना सफलता फटाफट चाहिए। जब ये आसमानी आकांक्षाएं पूरी नहीं होती तो आत्मघात की राह पर चल पड़ते हैं। यही वजह है कि परीक्षा परिणामों की आपाधापी के बीच दिल्ली से लेकर देश के दूरदराज के इलाकों में आत्महत्या की खबरें आने लगती हैं। इस बार भी आई। देश के कोने-कोने से ऐसी खबरें हर साल आती हैं। लेकिन यह मुद्दा कभी राजनेताओं के लिये चुनावी मुद्दा नहीं बनता। इस स्थिति के लिये समाज भी कम जिम्मेदार नहीं है। ऐसे माता-पिताओं की संख्या भी कम नहीं जो अपने जीवन की असफलता का बोझ बच्चों पर डाल कर अप्रत्याशित की उम्मीद करते हैं। एक स्कूल की एक कक्षा का हर विद्यार्थी अपने में अलग होता है। उसकी शिक्षा ग्रहण करने, लिखने, पढ़ने और गुनने की क्षमता अलग-अलग होती है। जिसमें उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि,परिवेश व परवरिश की अलग से भूमिका होती है। फिर आज के इंटरनेट व मोबाइल संस्कृति के दौर में भटकाव के तमाम खतरे हैं।

दरअसल, आज एक छात्र को शिक्षक व अभिभावकों के इतर पढ़ाने वाले तमाम ऐसे माध्यम हैं जो सिर्फ व्यावसायिक उद्देश्य के लिये बच्चों को भ्रमित करते हैं। वहीं स्कूल-कालेजों का स्तर, शिक्षकों की गुणवत्ता और भाषा माध्यम भी फर्क डालता है। केंद्रीय शिक्षा बोर्डों का पाठ्यक्रम, परीक्षा प्रणाली और उदारता पूर्वक नंबर देना, राज्यों के शिक्षा बोर्डों से बिल्कुल भिन्न है।

कर्नाटक की राजनीति का महारथी सिद्धारमैया

राजनीति

-फीचर

राजनीति अनहोनी का दूसरा नाम है। सिद्धारमैया का अनुभव उनके काम आया। हमेशा नाप-तोल के साथ चलने वाले सिद्धारमैया दूसरी बार कर्नाटक के मुख्यमंत्री की शपथ लेने जा रहे हैं। छोटे कदमों से राजनीति शुरू करने वाले सिद्धारमैया पहली बार 1983 में भारतीय लोक दल पार्टी से चुनाव लड़कर विधानसभा पहुंचे थे।

सिद्धारमैया ने धीरे-धीरे कांग्रेस पार्टी में जगह बनाई। वह ऐसी जगह थी कि पार्टी आलाकमान को फिर उनसा कोई दूसरा नजर नहीं आया। हालांकि एक समय वे जनता दल के पार्टी अध्यक्ष (1999 से लेकर 2004 तक) थे और कांग्रेस के कट्टर विरोधी। अब राजनीति कहां सिद्धांत का अधिक खयाल रखती है। जब एचडी देवगौड़ा के बिगाड़ हुआ और दूरी बढ़ी तो वे जनता दल सेकुलर छोड़कर कांग्रेस में शामिल हो गए। इस बात को महज 15 साल हुए हैं।

उसके ठीक पांच साल बाद यानी 2013 में सिद्धारमैया को कांग्रेस पार्टी ने सूबे का कामन सौंप दिया। करीब तीन दशक से भी अधिक समय बाद सूबे की जनता को ऐसा मुख्यमंत्री मिला जो अगले पांच वर्षों तक लगातार कुर्सी पर टिका रहा। इससे जाहिर है कि सिद्धारमैया कांग्रेस की पसंद के साथ-साथ उनकी कमजोरी भी हैं। इसकी खास वजह यह है कि कर्नाटक के ग्रामीण इलाकों में उनकी पकड़ा मजबूत है। छवि साफ सुथरी है।

यही वजह रही कि तमाम उठापटक के बीच कर्नाटक के मुख्यमंत्री के तौर पर उन्होंने अपना कार्यकाल पूरा किया। उन्होंने 2018 तक सूबे की कमान संभाली। एक लंबे समय बाद कर्नाटक की जनता ने पांच साल तक किसी राजनेता को लगातार मुख्यमंत्री की कुर्सी पर बैठा देखा।

सिद्धारमैया को बागी तेवर वाला राजनेता माना जाता है। जहां रहे, उनके बागी तेवर उठते रहे। कर्नाटक की जनता को उनका यह अंदाज शायद पसंद है। यह संयोग ही है कि उन्हें कभी भारी विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। शासन में रहते हुए उनके कुछ फैसलों का जरूर विरोध हुआ, लेकिन उनकी लोकप्रियता में कोई खास कमी नहीं आई।

2023 के विधानसभा चुनाव में कर्नाटक कांग्रेस के प्रदेश अध्यक्ष डीके शिवकुमार उनके प्रतिद्वंदी बनकर उभरे, लेकिन आलाकमान ने सिद्धारमैया के नाम पर मुहर लगाई और डीके शिवकुमार को उपमुख्यमंत्री तक सीमित रखा।

चुनावी राजनीति के साथ-साथ शासन को संभालने में सिद्धारमैया माहिर हैं। 1985 में वे जनता पार्टी की रामकृष्ण हेगड़े सरकार में मंत्री थे। तब उन्होंने अपनी कार्यशैली से लोगों को प्रभावित किया था। वे अबतक 12 चुनाव लड़ चुके हैं और नौ में जीत दर्ज की है।

सिद्धारमैया का जन्म 10 अगस्त, 1948 को मैसूर जिले के सिद्दरामनहुंडी गांव में हुआ था। वे किसान परिवार से आते हैं। मैसूर विश्वविद्यालय से बी-एससी की डिग्री हासिल की है। माता-पिता चाहते थे कि सिद्धारमैया डॉक्टर बनें, लेकिन उन्होंने मैसूर यूनिवर्सिटी से ही एलएलबी की पढ़ाई कर वकील बनना पसंद किया। वर्ष 1978 में राजनीति में कदम रखा। वह सफर आज भी जारी है।